क्यासनूर जंगल रोग एक खोजी कथा

नित्यानंद राव

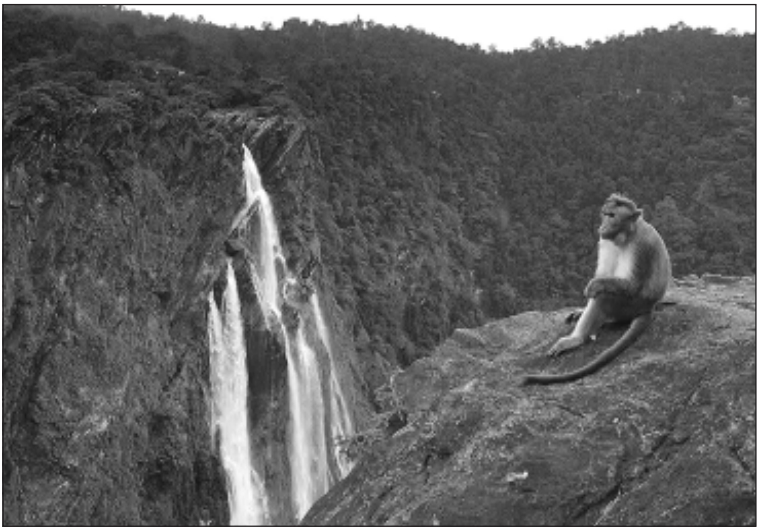

एक समय था जब क्यासनूर फॉरेस्ट डिज़ीज़ (केएफडी) की उत्पत्ति की तलाश को 'हमारे ज़माने की सम्भवतः सबसे नाटकीय रोगप्रसार वैज्ञानिक जासूसी कहानी' की संज्ञा दी गई थी। यह रही वह कहानी।

राजगोपालन पेड़ पर चढ़े और मृत लंगूर की लाश को लेकर उतरे। जंगल के फर्श पर रखकर उन्होंने लाश का अध्ययन किया तो सतह पर कुछ भी उल्लेखनीय नहीं दिखा। इसके बाद खतरे से अनजान या लापरवाह होकर उन्होंने लाश की चीरफाड़ कर डाली। ऐसा लगता था कि रक्तस्राव हुआ था। राजगोपालन ने उसके गुर्दे, लीवर, तिल्ली और भेजा निकाल लिया,

ऊतक व खून के नमूने लिए और उन्हें अलग-अलग बर्तनों में बर्फ में पैक कर दिया। ये नमूने अब पुणे स्थित वायरस अनुसन्धान केन्द्र (वायरस रिसर्च सेन्टर - वीआरसी) में भेजे जाने के लिए तैयार थे। जंगल में अन्य स्थानों पर उनके साथी भी यही कर रहे थे।

एक अजीबोगरीब बीमारी

कुछ ही दिन पहले वे आन्ध्र प्रदेश में गोदावरी नदी में एक नाव पर रहकर मच्छर और पक्षियों के खून के नमूने जुटा रहे थे। वे और अन्य लोग वीआरसी की एक मैदानी टीम के सदस्य थे जो यह समझने की कोशिश कर रही थी कि क्या प्रवासी पक्षी भारत में जापानी मस्तिष्क ज्वर को लाने के लिए ज़िम्मेदार हैं। प्राणि विज्ञान में स्नातकोत्तर उपाधि प्राप्त करके वीआरसी में आए उन्हें अभी चार साल ही हुए थे और फिलहाल वे शोध सहायक ही थे। मगर 27 वर्षीय, अविवाहित राजगोपालन में अपने जीवन को सार्थक बनाने की चाह थी और वे जोखिम उठाने को तत्पर थे। इसी वजह से उन्हें यहाँ कर्नाटक के शिमोगा ज़िले में सागर व सोराब तालुकों के सदाबहार जंगल में तैनात किया गया था। यह 1957 के अप्रैल के शुरुआती दिनों की बात है।

वीआरसी के मैदानी अन्वेषक इस इलाके में दर्जनों बन्दरों की रहस्यमय मौत की छानबीन कर रहे थे। पुणे में सबसे पहले इसकी खबर 23 मार्च के दिन पहुँची थी। इस खबर के साथ ज़्यादा चिन्ताजनक खबर यह आई थी कि जंगल के आसपास के गाँवों के लोग अजीबोगरीब लक्षणों - तेज़ बुखार जो दो-दो सप्ताह तक चलता था, बदन दर्द, सिरदर्द, उल्टी-दस्त, और कभी-कभी टट्टी में खून आना - के साथ बीमार पड़ रहे थे। एक बात यह थी कि गाँववासियों ने देखा था कि वही लोग बीमार पड़ रहे थे जो जंगल में गए थे और जिन्होंने मृत बन्दरों को 'देखा' या 'सूँघा' था। ऐसा एक ही ज्ञात रोग था जो जंगलों में बन्दरों की जान लेता था और मनुष्यों को भी बीमार करता थाः डरावना पीत ज्वर।

रॉकफेलर फाउण्डेशन, जिसने 1952 में वीआरसी की स्थापना की थी, पीत ज्वर के बारे में सब कुछ जानता था। यह बीमारी मच्छरों से फैलती है और खास तौर से दक्षिण अमेरिका तथा अफ्रीका में हज़ारों लोगों की जान ले चुकी थी। फाउण्डेशन के स्वास्थ्य कार्यक्रम का उद्देश्य है 'दुनिया भर में मानव जाति की खुशहाली', और पीत ज्वर का उन्मूलन उसके पहले लक्ष्यों में से एक है। फाउण्डेशन ब्राज़ील, कोलम्बिया, नाइजीरिया और यूगांडा में वायरस अनुसन्धान में मदद देता है। उन्होंने पीत ज्वर अनुसन्धान की शुरुआत की थी और एक टीका विकसित किया था, मगर इसकी भारी कीमत चुकानी पड़ी थीः उनके पीत ज्वर कार्यक्रम में सहभागी 67 कर्मचारियों में से पाँच इस रोग से मारे गए थे।

1930 के दशक में फाउण्डेशन ने पीत ज्वर अनुसन्धान और उन्मूलन के प्रयासों से हाथ खींच लिए थे किन्तु मच्छर जैसे संधिपाद जन्तुओं (arthropods) द्वारा वाहित वायरसों में उनकी रुचि बनी रही। 1951 में फाउण्डेशन ने संधिपाद-जन्तु-वाहित वायरसों की खोज व सूचीकरण हेतु एक विश्व-व्यापी कार्यक्रम हाथ में लिया। 15-20 सालों तक उन्होंने दुनिया भर में - त्रिनिदाद, ब्राज़ील, दक्षिण अफ्रीका, कोलम्बिया, नाइजीरिया - में प्रयोगशालाओं को मदद दी। इसके अन्तर्गत वित्तीय सहायता, मुख्यालय से शोधकर्ता भेजना, मेज़बान देशों में शोधकर्ताओं को प्रशिक्षण देना शामिल था। और इसी तरह से वे भारत भी पहुँचे थे और 1952 में पुणे में वीआरसी की स्थापना की थी। फाउण्डेशन की प्रयोगशालाओं में वैज्ञानिकों ने शिशु चूहों को दुनिया भर के मैदानी केन्द्रों में कार्यरत अपने वैज्ञानिकों द्वारा प्राप्त वायरसों से संक्रमित करके सैकड़ों वायरस नमूने प्राप्त किए थे। वे सोचा करते थे कि क्यों पीत ज्वर भारत में नहीं पाया जाता। अब, ऐसा लग रहा था कि वे इसका जवाब खोज लेंगे।

जब राजगोपालन और उनके साथी मैदानी अन्वेषक 2 अप्रैल के दिन जंगल में पहुँचे, तब उन्हें बन्दरों की लाशें प्राप्त करने में कोई कठिनाई नहीं हुई। इनमें से कुछ बन्दर तो हाल ही में मरे थे जबकि अन्य विघटन की विभिन्न अवस्थाओं में थे। गाँववासियों ने बताया कि बन्दरों की मौतें उस साल जनवरी से हो रही थीं और इसी प्रकार का हादसा थोड़े कम पैमाने पर पिछले साल भी हुआ था। इस बात की पुष्टि मैसूर स्वास्थ्य विभाग ने भी की, जिसके पास इस बात के रिकॉर्ड उपलब्ध थे कि लोग टायफाइड-नुमा रोग से बीमार पड़े थे। इसे 'आंत्र ज्वर' का नाम दिया गया था। कुछ लोगों ने उनींदेपन और 'मानसिक भ्रम' का भी अनुभव किया था। 1957 में 500 लोग इस नई बीमारी से पीड़ित हुए थे और 70 जानें गई थीं। स्थानीय लोग इसे 'बन्दर बुखार' कहने लगे थे।

समय बहुत कम था। यदि यह वास्तव में पीत ज्वर था तो इसके वाहक जंगली मच्छरों की संख्या में तेज़ी से उतार-चढ़ाव होना चाहिए। अगले ही दिन लगभग दर्जन भर लोगों की टीम काम में जुट गई। उन्होंने जंगल में विभिन्न ऊँचाइयों से दिन-रात मच्छर इकट्ठा करना शुरू कर दिया। इसके लिए पेड़ों पर मचानें लगाई गई थीं। मगर दक्षिण अमेरिका के विपरीत शिमोगा में जंगल के चंदवे (कैनपी) से विशिष्ट मच्छर नहीं मिले। अन्य गुत्थियाँ भी जल्दी ही उभर आईं। उनको ऐसे मच्छर बहुत ज़्यादा नहीं मिले जो मनुष्यों को दिन के वक्त काटते हों। ऐसा तब होता था जब गाँववासी जंगल में जाते थे और सम्भवतः मच्छर उन्हें काटते थे। उनके काम को प्रस्तुत करते एक शुरुआती शोध पत्र में कहा गया था कि 'तीन

घण्टों की अवधि में एक निष्क्रिय व्यक्ति को काटते मात्र एक मच्छर पकड़ा गया।'

दक्षिण अमेरिका में पीत ज्वर का प्रकोप बारिश के मौसम में ज़्यादा होता है क्योंकि मच्छर सबसे ज़्यादा संख्या में होते हैं। किन्तु शिमोगा में अधिकांश मनुष्यों - तथा बन्दरों - के संक्रमण मॉनसून के बाद रिपोर्ट हुए थे। और ऐसा क्यों था कि शिमोगा से बाहर यह रोग मनुष्यों और बन्दरों को प्रभावित नहीं करता है? पता चला कि जो गाँव 1957 में प्रभावित हुए थे, वे वही गाँव थे जो उसके पिछले साल भी प्रभावित हुए थे। निःसन्देह, मच्छर तो उड़कर अन्य ज़िलों में जाने में भी सक्षम थे। पीत ज्वर को एक साल में 150 कि.मी. आगे बढ़ जाना चाहिए था।

रूसी कनेक्शन

अप्रैल के मध्य तक उन्हें पुणे से जवाब मिला। जो नमूने उन्होंने भेजे थे, उनकी जाँच की गई थी। यह वास्तव में एक संधिपाद-जन्तु-वाहित वायरस था, जिसे आजकल फ्लेविविरीडी कुल में वर्गीकृत किया जाता है। पीत ज्वर, डेंगू, जापानी मस्तिष्क ज्वर और ज़िका वायरस भी इसी कुल में शामिल हैं। मानव रक्त के नमूनों ने इस निष्कर्ष की पुष्टि कर दी। वीआरसी ने वेल्लोर और पुणे से अन्य कीट-संग्रह टीमें शिमोगा भेज दीं।

मगर संग्रहित मच्छरों में उन्हें कोई वायरस नहीं मिला। स्पष्ट था कि मामला कुछ और है। नमूने रॉकफेलर फाउण्डेशन की न्यूयॉर्क स्थित प्रयोगशाला को भी भेजे गए थे। और वहाँ के परिणामों ने एक अचरज प्रस्तुत कियाः वायरस पीत ज्वर का नहीं था। पता चला कि यह दरअसल रूसी वसन्त-ग्रीष्म मस्तिष्क ज्वर से सम्बन्धित है, जो एक पिस्सू-वाहित (tick-borne) रोग है और रूस में काफी पाया जाता है।

इस समय तक शोधकर्ता यह देख चुके थे कि बन्दरों के शवों पर हमेशा बड़ी तादाद में पिस्सू पाए जाते थे। तो उन्होंने जंगल के फर्श पर सूती फलालेन के एक-एक वर्ग मीटर के झण्डे घसीटकर पिस्सू एकत्रित करना शुरू कर दिया। और उन्हें ढेरों पिस्सू मिले।

17 अप्रैल को, जब पिस्सू एकत्रित करते तीन दिन बीत चुके थे, टीम के दो सदस्य बीमार पड़ गए। स्थिति बिगड़ने के डर से काम तत्काल रोक दिया गया। दो सप्ताह के अन्दर तीसरा व्यक्ति बीमार पड़ा। उनके खून के नमूनों में वायरस पाया गया।

महान अमरीकी कीट वैज्ञानिक हेरी हूगस्ट्रॉल ने इसे 'हमारे ज़माने की सम्भवतः सबसे नाटकीय रोगप्रसार वैज्ञानिक (epidemiological) जासूसी कहानी' की संज्ञा दी थी, और अभी तो शुरुआत ही हुई थी।

केएफडी का फैलाव

आधी सदी तक क्यासनूर जंगल रोग कर्नाटक के पाँच ज़िलों - शिमोगा, चिकमगलूर, उत्तर कन्नड़, दक्षिण कन्नड़ और उडुपी - तक सीमित रहा। लगभग पूरे समय यह खामोशी से सुलगता रहा, मगर 1982-84 में लपटें भी देखी गई थीं। छः दशकों में इसने कर्नाटक में 500 से ज़्यादा जानें ली हैं और इसके मरीज़ों की मत्यु दर लगभग 5 प्रतिशत रही है। 2006 में इसके सीमित इलाके से बाहर पहला मानव मरीज़ महाराष्ट्र की सीमा से लगे गुलबर्गा ज़िले में देखा गया। 2012 में केरल और तमिलनाडु की सीमा पर स्थित बन्दीपुर राष्ट्रीय उद्यान में बन्दरों की लाशों को हैण्डल करने वाले 6 लोग बीमार पड़े। 2013 में पड़ोसी निलगिरी ज़िले (तमिलनाडु) में बन्दरों की मौतें हुईं और उनमें केएफडी वायरस पाया गया। इसी वर्ष केरल के वायनाड ज़िले में पहला संक्रमण रिपोर्ट किया गया। यह ज़िला बन्दीपुर से सटा हुआ है। 2014 में वायरस ने केरल के मल्लपुरम ज़िले में नीलाम्बूर के आदिवासियों को संक्रमित किया। 2015 में वायनाड में बन्दरों की मौत के बाद 100 से ज़्यादा मनुष्य संक्रमित हुए जिनमें से 11 की जानें गईं। यह रोग

मूमूल अर्थ

चित्र-1: बन्दरों या मनुष्यों में आज तक जहाँ-जहाँ केएफडी वायरस पाया गया है।

गोवा में भी प्रकट हुआ जहाँ करीब 50 लोग संक्रमित हुए और पाँच जान से हाथ धो बैठे। और इस वर्ष इसे महाराष्ट्र के सिन्धुदुर्ग ज़िले में देखा गया जहाँ करीब 100 लोग संक्रमित हुए और सात की मृत्यु हुई। राष्ट्रीय वायरस विज्ञान संस्थान, वीआरसी का नया रूप, के मुताबिक यह 'जन स्वास्थ्य के लिए एक चेतावनी थी।' गोवा, जो इस रोग के नए केन्द्र के रूप में सामने आ रहा था, में इस वर्ष 264 मामले रिपोर्ट किए गए हैं और तीन मौतें हुई हैं। इस दौरान वायरस ने शिमोगा का पीछा नहीं छोड़ा है और इस वर्ष वहाँ 12 मामले और एक मौत हुई है।

जहाँ-जहाँ इस बीमारी ने सिर उठाया है, वे सब पश्चिमी घाट के किनारे-किनारे हैं। और केएफडी का सुराग इसी बात में छिपा है। जैसा कि 1982 में रोग प्रकोप के एक जनजातीय अध्ययन में कहा गया था, 'यह सचमुच एक भूमि दोष है।'

राजगोपालन का शोध

अगस्त 2016 में मैं पायालोर कृष्णाअय्यर राजगोपालन से चैन्नई में समुद्र से चन्द सैकड़ा मीटर दूर एक शान्त बस्ती में उनके घर पर मिला था। 86 वर्ष की उम्र में वे विभिन्न विषयों पर लिखने और देश-दुनिया के वैज्ञानिकों से खतो-खिताबत में मशगूल रहते हैं। उन्होंने मुझे अपने कंप्यूटर का डेस्कटॉप वॉलपेपर दिखाया - खून पीकर मोटा-तगड़ा हुआ *एडीस एजिप्टी* मच्छर जो डेंगू, चिकनगुनिया, ज़िका और पीत ज्वर जैसे कई फ्लेवीवायरसों का वाहक है। "सुन्दर तस्वीर है," उन्होंने बताया।

राजगोपालन ने मुझे कई और फोटो भी दिखाए। अपने एक फोटो की ओर इशारा करके बोले, "ये मैं हूँ, प्राणि विज्ञान में प्रथम श्रेणी एम.एससी. की फालतू उपाधि के साथ।" यह फोटो उस समय की थी जब वे 1957 में वीआरसी टीम के साथ शिमोगा में काम कर रहे थे। उन्होंने केएफडी क्षेत्र के एक मैदानी अनुसन्धान केन्द्र में लगभग 13 वर्ष व्यतीत किए थे। वे कहते हैं कि वास्तव में उनकी शिक्षा यहीं से शुरू हुई थी। उन्हें एक काम यह सौंपा गया था कि मरीज़ों और कभी-कभार शवों को गाँव से अस्पताल पहुँचाना। उन्होंने बताया कि ऐसे ही एक अवसर पर भीड़ ने उनका पीछा किया था और उन्हें भागकर अपनी जान बचाना पड़ी थी। "कोई नहीं चाहता कि उनके सम्बन्धियों की चीरफाड़ और शव परीक्षा की जाए।"

बाद में वे खुद केएफडी की चपेट में आ गए थे और खून की उल्टियाँ होने लगी थीं। बहरहाल, संक्रमण हल्का-सा था और वे जल्दी ही ठीक हो गए थे। उनको लगता है कि इसका कारण यह था कि जब उन्हें रॉकफेलर फाउण्डेशन द्वारा अफ्रीका और यूएस भेजा गया था, तब वहाँ उन्हें पीत

एनआईवी; https://thewire.in/81210/kyasanur-kfd-rajagopalan-boshell/

चित्र-2: तेज़ बुखार से पीड़ित व्यक्ति से जाँच के लिए खून का नमूना निकाला जा रहा है - शिमोगा, 1962। दाहिनी तरफ चश्मा लगाए व्यक्ति राजगोपालन हैं।

ज्वर समेत कई सम्बन्धित वायरसों के लिए टीके लगे थे। मगर संक्रमण ने उनकी आँखों को कमज़ोर कर दिया। उन्होंने बताया, "रॉकफेलर फाउण्डेशन ने मेरी अनुपस्थिति को ऐसे लिया मानो मैं दौरे पर गया हूँ। वे बढ़िया लोग थे।"

उन्होंने फाउण्डेशन के अपने सहकर्मियों को भी बहुत प्रेम से याद किया। उनमें एक ऐसे व्यक्ति भी थे जिन्हें राजगोपालन ने अपना गुरु कहकर याद किया: जॉर्ज बोशेल-मेनरिके जो कोलम्बिया के चिकित्सक और रोग प्रसार वैज्ञानिक थे। जब बोशेल 1960 में पुणे पहुँचे थे, उस समय राजगोपालन बर्कले से लौटे थे जहाँ शिमोगा में उनके शुरुआती काम के बाद उन्हें जन स्वास्थ्य में उपाधि के लिए भेजा गया था।

क्यासनूर के जंगल में बोशेल हमेशा अपने हाथ में एक छुरी लेकर चलते थे ताकि झाड़-झंखाड़ साफ कर सकें। उत्सुक राजगोपालन उनके पीछे-पीछे चलते थे। पाँच सालों तक वे शिमोगा में वीआरसी के मैदानी अनुसंधान केन्द्र पर साथ-साथ रहे और इन पाँच वर्षों में राजगोपालन ने बोशेल से दुनिया भर के मैदानी अनुभवों की कहानियाँ सुनने का एक भी मौका हाथ से नहीं जाने दिया। बोशेल भी केएफडी से पीड़ित हुए मगर ठीक होकर दक्षिण अमरीका लौटने से पहले उन्होंने भारत में पाँच साल बिताए। राजगोपालन ने बताया, "वे एक चलते-फिरते

विश्वविद्यालय थे।"

अब जबकि यह स्पष्ट हो चुका था कि वायरस पीत ज्वर का नहीं था, तो साथ मिलकर उन्हें कई गुत्थियाँ सुलझानी थीं। सवाल था कि क्या यह शिमोगा में कहीं बाहर से आया है? उदाहरण के लिए प्रवासी पक्षी पिस्सू और वायरस के वाहक हो सकते हैं। मगर वे अपने इस बोझ को मात्र शिमोगा में ही क्यों हल्का करेंगे? दूसरी ओर, यदि वायरस स्थानीय है तो अचानक प्रकोप क्यों? तो क्या इसका मतलब है कि यह वायरस सदा से एनज़ुऑटिक (enzootic) था, चुपचाप जंगल में रहता था? मगर इसमें से भी वही सवाल निकलता था - मात्र शिमोगा ही क्यों? और अब क्यों?

वर्षों के अपने मैदानी काम के परिणामों को समेटते हुए 1969 के एक भविष्यअन्देशी पर्चे में बोशेल ने लिखा था, 'ये सवाल अकादमिक तो बिलकुल भी नहीं हैं।' वे जानते थे कि जिस ढंग से यह गुत्थी खुलेगी उससे तय होगा कि क्या केएफडी आने वाले दशकों में नए इलाकों में उभरेगा यानी एपिज़ुऑटिक हो जाएगा।

चूँकि न्यूयॉर्क स्थित रॉकफेलर प्रयोगशाला में पता चल गया था कि केएफडी का वायरस रूसी वसन्त-ग्रीष्म मस्तिष्क ज्वर वायरस का नज़दीकी है, इसलिए एक सम्भावना यह थी कि यह वायरस किसी प्रकार से रूस से यहाँ आया है। संयोग की बात थी कि पक्षी वैज्ञानिक सलीम अली की काफी समय से बैंडिंग करके प्रवासी पक्षियों के अध्ययन में दिलचस्पी थी। बैंडिंग का मतलब होता है कि प्रवासी पक्षियों को पकड़कर छल्ले पहना दिए जाएँ और अन्यत्र उन्हें फिर से पकड़कर उनके प्रवास के बारे में जानकारी हासिल की जाए। मगर उनको इस प्रोजेक्ट के लिए पैसा नहीं मिल पा रहा था। उन्होंने इस अवसर को पहचाना और विश्व स्वास्थ्य संगठन को यकीन दिलाया कि वे मध्य एशिया से आने वाले पक्षियों से पिस्सू और खून के नमूने लेकर केएफडी के स्रोत का पता लगा सकते हैं। 1960 में विश्व स्वास्थ्य संगठन राज़ी हो गया और इस तरह बॉम्बे नेचुरल हिस्ट्री सोसायटी का पक्षी प्रवास प्रोजेक्ट बना।

अलबत्ता, शुरुआती प्रकोप के बाद केएफडी तत्काल नए इलाकों में नहीं उभरा। विश्व स्वास्थ्य संगठन ने वित्तपोषण बन्द कर दिया मगर स्मिथसोनियन इंस्टीट्यूशन और यूएस आर्मी मेडिकल रिसर्च युनिट के *दी माइग्रेटरी एनिमल्स पैथॉलॉजिकल सर्वे* (MAPS) कार्यक्रम ने 1964 में अली को फंडिंग शुरू कर दी। MAPS दरअसल जापानी मस्तिष्क ज्वर के अध्ययन के लिए दक्षिण-पूर्व एशिया में एक विशाल पक्षी-निशानदेही प्रोजेक्ट था। पूर्ण MAPS कार्यक्रम के तहत 1963 से 1975 के दरम्यान लगभग 12 लाख पक्षियों की निशानदेही की गई थी। अली अपने आँकड़े व नमूने

व्यापक प्रोजेक्ट से साझा करने को राज़ी हो गए। अली के प्रोजेक्ट में सोवियत वैज्ञानिक भी शामिल थे और आँकड़े व नमूने उनकी प्रयोगशाला को भेजे जाते थे। इसके बावजूद यह विवाद पैदा हुआ था कि शायद अमरीकी फौज इस प्रोजेक्ट के लिए फंडिंग जैविक अस्त्रों को ध्यान में रखकर कर रही है। आलोचकों का विचार था कि प्रवास मार्ग की जानकारी होने पर वायरसों को अन्तर्राष्ट्रीय सरहदों के पार भेजने का रास्ता खुल जाएगा।

यही वह समय था जब राजगोपालन ने अली के साथ अपनी पीएच.डी. की थी। इसके लिए उन्होंने शिमोगा में आने वाले प्रवासी पक्षियों से पिस्सू एकत्रित किए थे। उन्होंने पाया कि ये पक्षी कोई विदेशी पिस्सू लेकर नहीं आते, वायरस-वाहक पिस्सुओं की तो बात ही जाने दें। जो पक्षी पिस्सू फैलाने, और वह भी सिर्फ स्थानीय रूप से फैलाने, में सक्षम लगते थे, वे ज़मीन पर विचरने वाले पक्षी थे। जैसे जंगली मुर्गियाँ। अर्थात् वायरस स्थानीय ही होना चाहिए।

***

पिस्सुओं का अध्ययन

यदि वीआरसी के शोधकर्ता इलाके के पिस्सुओं का अध्ययन करना चाहते, तो पहले तो उन्हें एकत्रित करना ज़रूरी था। जंगल में पिस्सुओं के 'कबीलों' की तलाश करने का एक तरीका तो यह था कि ऐसे किसी गाँव में जाएँ जहाँ केएफडी संक्रमित व्यक्ति की खबर हाल में मिली हो और यह पता लगाने की कोशिश की जाए कि वह मरीज़ रोग के लक्षण प्रकट होने से पहले कहाँ-कहाँ गया था। यह मुश्किल काम था - खास तौर से इसलिए क्योंकि गाँववासी तो जलाऊ लकड़ी या पशुओं को चराने के लिए जंगल में दूर-दूर तक जाते थे। बच्चों, खासकर लड़कियों के साथ यह करना आसान था, क्योंकि वे कभी-कभार ही जंगल में जाती थीं और इसलिए ज़्यादा स्पष्ट रूप से उन्हें याद रहता था। ये वे लड़कियाँ थीं जो जंगल में टहनियाँ बीनने या कटहल ढूँढ़ने या माला बनाने के लिए फूल लाने गई थीं और पिस्सू ने इन्हें काट लिया था।

एक बारी जब सम्भावित क्षेत्र चिन्हित हो गए, तो मैदानी अन्वेषकों ने पिस्सू इकट्ठे करने के लिए जंगल के फर्श पर चादरों को घसीटा। इसके बाद इन्हें चिमटियों से उठा लिया जाता। यह काम बरसात के दिनों में सम्भव नहीं था, इसलिए उन दिनों में पिस्सुओं को पत्तियों की निचली सतह से हाथ से पकड़ना पड़ता था। पिस्सुओं को लिंग व प्रजाति के आधार पर छाँटने के बाद उन्हें काँच की नलियों में डालकर जाँच हेतु पुणे की वीआरसी प्रयोगशाला में भेज दिया जाता। पिस्सू वाकई केएफडी वायरस के वाहक थे।

पिस्सुओं के हज़ारों कबीलों के संग्रह के आधार पर एक पैटर्न उभरने लगा। अनुसंधान केन्द्र पर एक पिस्सू था

हीमेफायसेलिस स्पिनिजेरा (*Haemaphysalis spinigera*) जो बन्दरों पर रहता था और मनुष्यों को काटता था। इसके लार्वा की तादाद मॉनसून के बाद सितम्बर में बढ़ने लगती है। नवम्बर-दिसम्बर में वे किशोरावस्था - निम्फ - में पहुँच जाते थे और कई सारे मेज़बानों से भोजन प्राप्त करते थे और केएफडी वायरस संचारित करने में सक्षम हो जाते थे। फरवरी या मार्च में निम्फ की संख्या अपने चरम पर होती है, जो जून में मॉनसून की शुरुआत के साथ प्रौढ़ावस्था में पहुँच जाते हैं। यह स्पष्ट हो गया कि निम्फ की सक्रियता की अवधि और बन्दरों व मनुष्यों में संक्रमण की अवधि मेल खाती हैं।

मगर एक गुत्थी भी थीः पिस्सू के जिन कबीलों में से केएफडी वायरस पृथक किया गया था, उनके आसपास (बहुत दूर नहीं) अन्य कबीले भी होते थे, जिनमें से कोई वायरस नहीं मिला था। संक्रमित पिस्सुओं के ऐसे अलग-थलग केन्द्र का मतलब यही हो सकता था कि स्थानीय स्तर पर कोई आवर्धक कारक मौजूद थाः अर्थात् ऐसा कोई पशु अवश्य होना चाहिए जो बड़ी मात्रा में वायरस को अपने खून में प्रवाहित रख सके और कई पिस्सुओं को संक्रमित कर सके।

बन्दर स्पष्ट तौर पर सन्देह के घेरे में थे मगर इस बात की पुष्टि आवश्यक थी। तो शोधकर्ताओं ने कुछ बन्दर पकड़े, उनके बेल्ट पर एक लकड़ी बाँध दी और उन्हें जंगल में इधर-उधर घुमाया ताकि यह देखा जा सके कि क्या वे पिस्सुओं को आकर्षित करते हैं। इसके परिणामस्वरूप जो शोध पत्र निकला उसमें कहा गया था, 'शुरुआती विद्रोही तेवरों के बाद, बन्दरों ने हथियार डाल दिए और निर्देशानुसार हर जगह गए।' इन बन्दरों को फिर मैदानी अनुसन्धान केन्द्र की एक प्रयोगशाला में ले जाया गया और पानी के पात्रों के ऊपर पिंजड़ों में रखा गया। शोधकर्ताओं ने उन पिस्सुओं को गिना जो खून पीने के बाद बन्दरों पर से टपके थे। जंगल में पिस्सू तब गिरते हैं जब या तो बन्दर आराम फरमा रहे हों या मर जाएँ। इससे अलग-थलग केन्द्रों की बात की व्याख्या हो जाती है।

परन्तु क्या बन्दर वास्तव में पिस्सू दंश से मिले केएफडी वायरसों की वजह से मर रहे थे? और यह वायरस उनके साथ करता क्या था? इसका पता लगाने के लिए शोधकर्ताओं ने एक निगरानी व्यवस्था स्थापित की ताकि बन्दरों की मृत्यु के बारे में जानकारी मिल सके। यह ऐसी व्यवस्था थी जिसे आजकल हम 'क्राउडसोर्सिंग' (जन सहयोग) कहते हैं और इसमें समुचित पारितोषिक भी शामिल थे। शोधकर्ताओं को यह जानकर बिलकुल भी आश्चर्य नहीं हुआ कि किसी अन्य माह की अपेक्षा ज़्यादा बन्दर फरवरी और मार्च में मरते हैं। इसके बाद के सात सालों में मैदानी टीम ने हज़ार

से ज़्यादा बन्दरों की मृत्यु की खोजबीन की और उनमें से 400 की शव परीक्षा की। इनमें से अधिकांश लंगूर थे। यदि उन्हें कोई बीमार और मरणासन्न बन्दर दिखता तो उसे तत्काल मैदानी प्रयोगशाला में भेजा जाता या मौके पर ही क्लोरोफॉर्म सुंघाकर उसकी शव परीक्षा की जाती। मगर उससे पहले उसके मेहमान पिस्सुओं को एकत्रित कर लिया जाता और उसकी जांघ की शिरा में से खून का नमूना ले लिया जाता। यदि बन्दर मृत पाया जाता तो वे सीधे उसके हृदय में से खून का नमूना ले लेते थे। मात्र कुछेक बन्दरों में बाहरी तौर पर कोई असाधारण बात नज़र आई। जैसे, गुदा द्वार पर खून के थक्के अथवा गुर्दा क्षेत्र में हल्की-सी सूजन।

शोधकर्ताओं ने बन्दरों के अंग - भेजा, फेफड़े, लीवर, तिल्ली, गुर्दे - भी सहेजकर रखे मगर जल्दी ही उन्हें समझ में आ गया कि सिर्फ भेजा और फेफड़े ही ज़रूरी हैं। इन अंगों को हर सप्ताह बर्फ में रखकर ट्रेन से पुणे भेज दिया जाता था। या, बाद के वर्षों में शिमोगा की वायरस निदान प्रयोगशाला में। लीवर की जाँच से कुपफर (Kupffer) कोशिकाओं की प्रचुरता का पता चला। ये प्रतिरक्षा कोशिकाएँ होती हैं जो बाहरी पदार्थों तथा कोशिकाओं के मलबे को निगलती हैं। इनमें से कुछ कोशिकाएँ विशाल थीं और विभाजित हो रही थीं। भेजे में मरती हुई तंत्रिका कोशिकाएँ माइक्रोग्लियल कोशिकाओं से घिरी हुई थीं जो भेजे की प्रतिरक्षा कोशिकाएँ होती हैं। एक शोध पत्र में कहा गया था कि 'ये परिवर्तन अपने आप में विशिष्ट नहीं हैं और किसी भी विषजनित या संक्रमण जनित बुखार में हो सकते हैं।'

गुत्थियाँ और भी थीं: हर वर्ष बन्दरों की मौतें अलग-अलग इलाकों में हो रही थीं, हालाँकि कुल प्रभावित क्षेत्र में ज़्यादा विस्तार नहीं हो रहा था। क्या वायरस किसी इलाके में बन्दरों की आबादी में कमी करने के बाद आगे बढ़ता जा रहा था? क्या जीवित बचे बन्दर प्रतिरक्षित हो चुके थे? वैसे भी, बन्दर पूरे साल नहीं मर रहे थे। और उनकी भारी मृत्यु दर का मतलब था कि वे वायरस के लिए 'भण्डारण मेज़बान' की भूमिका नहीं निभा रहे थे। इसके अलावा, हर मौसम में पैदा होने वाले पिस्सू लार्वा संक्रमित नहीं होते थे। पिस्सू और बन्दरों, दोनों को यह वायरस कहीं और से मिल रहा था।

(...जारी)

नित्यानंद रावः स्वतंत्र विज्ञान पत्रकार हैं। इंडियन इंस्टीट्यूट ऑफ साइंस के आर्काइव्ज़ एंड पब्लिकेशन सेल के सम्पादकीय सलाहकार भी हैं। बैंगलुरु में निवास।

अँग्रेज़ी से अनुवादः सुशील जोशीः एकलव्य द्वारा संचालित स्रोत फीचर सेवा से जुड़े हैं। विज्ञान शिक्षण व लेखन में गहरी रुचि।

यह लेख 19 नवम्बर, 2016 की *द वायर* ऑनलाइन पत्रिका से साभार।